: ISSN NO.: 2321-290X RNI : UPBIL/2013/55327 VOL-6* ISSUE-9*(Part-2) May- 2019
E: ISSN NO.: 2349-980X **Shrinkhla Ek Shodhparak Vaicharik Patrika**

कबीर एवं उपभोक्ता संस्कृति

मूर्ति मलिक
एसोसिएट प्रोफेसर व
विभागाध्यक्ष,
हिन्दी विभाग,
भगत फूल सिंह महिला
विश्वविद्यालय,
खानपुर कलां, सोनीपत
हरियाणा, भारत

सारांश

सन्त कबीर पर चर्चा शुरू होते ही हमारे जहन में एक ऐसे महान व्यक्तित्व की छवि उभरती है। जो एक समाज सुधारक होने के साथ–साथ निरीह भक्त की तरह भगवान् के समक्ष बकरी के मेमनों की भाँति मिमियाते घिघयाते दृष्टिगोचर होते हैं। आ. द्विवेदी की विचारधारा को केन्द्र में रखकर यदि इनका विवेचन–विश्लेषण करें, तो ज्ञात होता है कि वे न केवल युगीन समाज को उनकी रूढ़ियों व विकृतियों के कारण फटकारते दुत्कारते हैं, वरन् उनकी सोच तो शताब्दियों की सीमाओं को लांघती हुई 21वीं शती के मानव को जागरूक करती प्रतीत होती है। मनुष्य के अन्तर्मन की गहराइयों में झांकते हुए उन्हें वह सब कुछ दिख जाता है, जिसे साधारण मनुष्य सामने होते हुए भी नहीं देख पाता। चौंधियाते बल्बों की रोशनी आज के मनुष्य को अपनी ओर खींच रही है। जबकि कबीर जैसे ज्ञानी, विवेकी, क्रान्तिकारी, युगचेता पहले से जानते थे कि किस प्रकार बाजार की चकाचौंध निरन्तर मनुष्य के मन को रिक्त करके उसके तन को भी अक्षम बना रही है।

मुख्य शब्द : युगचेता,परिधि, संस्कारित, परिष्कृत, परमार्थ, नैसर्गिक अलौकिक, दिव्य, सान्निध्य, श्रेयस्कर, बाजारवाद, आध्यात्मिक, एकाग्रता, विवेक– सम्पन्न,आत्मसाक्षात्कार, आत्मज्ञान, कालजयी अनुस्यूत, तादात्म्य सद्वृतिया, एकाग्रता आदि।

प्रस्तावना

कबीर की दूर दृष्टि का सूचक एक उदाहरण देखिये –

''साधु ऐसा चाहिये जैसा सूप सुभाय''[1]

अर्थात् ऐसा व्यक्तित्व जो सांसारिकता में लिप्त न हो। संसार में रहते हुये भी जो स्वयं को सांसारिकता से मुक्त रखें। जिसकी आवश्यकताएँ सीमित हो, जो उतना ही ग्रहण करे, जितनी उसकी आवश्यकताएँ हों। ठीक उसी प्रकार जैसे सूप में पिछोड़ने के लिए वह सारा अन्न डाला जाता है, जो अनेक प्रकार की विशुद्धियों से युक्त होता है, किन्तु अपेक्षा उससे वह की जाती है कि वह सार–सार को ही अपनी परिधि में रहने दे। जो व्यर्थ की सामग्री है, उसे स्वयं से दूर कर दे। बार–बार फटककर कर उसे बाहर कर दिया जाये। कबीर लोक–वाणी के माध्यम से सूप का उदाहरण देकर मानव मात्र को सचेत करके संदेश देना चाहते हैं। भले ही बड़े–बड़े मालों के रूप में या ऑफर के रूप में, डिस्काऊंट के रूप में, चौंधीयाती उपभोक्ता संस्कृति हमें अपनी ओर आकृष्ट करे, किन्तु हमें ग्रहण उतना ही करना है, जितना हमारे काम का है अर्थात् उपयोगी है। थोथी अर्थात् अनुपयोगी सामग्री से स्वयं को दूर रखना है। अनुपयोगी वस्तुएँ संग्रह की प्रवृत्ति को बढ़ावा देती है। संग्रह की प्रवृत्ति उचित–अनुचित के भेद को खत्म करके स्वार्थ की भावना को बढ़ावा देती है। स्वार्थ–प्रवृत्ति मनुष्य की विवेक बुद्धि को कुण्ठित करके मानव जीवन के मूल लक्ष्य (परमार्थ) से विमुख करती है। जबकि साहित्य का मूल लक्ष्य हित अर्थात् मानव मूल्यों व गुणों का संरक्षण व संवर्धन करना है। डॉ. गोपेश्वर के शब्दों में 'कविता मनुष्य को सबसे ज्यादा संस्कारित करती है।' कबीर की वाणियाँ तो एक कदम आगे बढ़कर संस्कारित ही नहीं, परिष्कारित भी करती है तथा मानवीय गुणों को पोषित भी करती है।'[2] मानवीय मूल्यों के संरक्षण व संवर्धन का जितना प्रयास कबीर की वाणियों में किया, इतना हिन्दी साहित्य में अन्यत्र कहीं नहीं देखने को मिलता। इनकी वाणी तो मानवीय मूल्यों के पोषण व संरक्षण में संजीवनी बूटी का काम करती है।

मानव अपने चंचल स्वभाव व मन की अस्थिरता के कारण अनेक अवगुणों का कोष है। मन की चंचलता उसे कस्तूरी मृग की भांति सदैव उस सुगन्धि को पाने के लिए विवश करती है। जबकि वह सुगन्धि उसकी नाभि में अवस्थित होती है। इसी तरह मनुष्य भी अपनी मूल वृत्ति को भूलकर निरन्तर विषय–वासनाओं की ओर आकृष्ट होता रहता है। मन के चांचल्य को रोकने के लिए उसे साधना पड़ता है अर्थात् बार–बार प्रयास करना पड़ता है। स्वयं को

नियन्त्रित करने की प्रवृत्ति तभी विकसित होगी, जब हम बार–बार उसको नियन्त्रित करने का अभ्यास करेंगे–

करत–करत अभ्यास के जड़मति होत सुजान
रसरि आवत–जात ते, सिल पर परत निसान।[3]

मन की चंचलता व्यक्ति को निरन्तर बाहरी चुंधियाती दुनिया की ओर ले जाती है। कबीर उपभोक्ता संस्कृति के बढ़ते प्रभाव व अपनी ओर खींचती बाजार की चकाचौंध से दूर रहने के लिए मन को साधने की बात कहते हैं। बार–बार रस्सी के आने–जाने से जब कठोर पत्थर पर भी निशान बन सकते हैं, तो हम स्वयं को क्यों नहीं रोक सकते? अभ्यास से तो जड़बुद्धि भी सुजान यानी ज्ञानी बन जाते हैं, फिर मनुष्य क्यों नहीं अपनी विवेक बुद्धि का उपयोग कर स्वयं को उस बाजारवाद के आकर्षण से बचा सकते अर्थात् बार–बार का अभ्यास करके मन को साध कर आज का मानव स्वयं को नियन्त्रित कर अपना भला कर सकता है।

कबीर मूलतः कवि है। निरीह भक्त की भाँति उस परमात्मा से अभ्यर्थना करते हैं कि सांसारिकता में फंसने की बजाय वह परमार्थ के रास्ते पर चलकर 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना से कर्म करे। वे नाम स्मरण की नाव पर चढ़कर संसार की नौका को पार करना चाहते हैं। इनका यह नाम–स्मरण आधुनिक युग में और भी प्रासंगिक प्रतीत होता है। कृत्रिमता से दूर वे पानी के नैसर्गिक स्रोतों की बात करते हैं। वे कभी भी मिनरल वाटर की इजाजत नहीं देते। ईश–स्मरण की तुलना वे दोघड़ लेकर पानी भरने वाली पनिहारिन से करते हैं। कुएँ पर पानी भरने के लिए जाती पनिहारिन का बिम्ब प्रस्तुत करते हैं। पनिहारिन भी वह जो दोघड़ यानी दो घड़े सिर पर रखकर स्वयं को साधते हुए पानी लेने जाती है, जिसमें से पानी की एक बूँद भी नहीं छलकती। ध्यान केन्द्रित करने का इससे श्रेष्ठ तरीका और कौन–सा हो सकता है। वह रास्ते के कंकड़–पत्थर को भी लाँघती है, किन्तु बिना हिले–डुले, बिना पानी छलकाये। सुमिरन का ऐसा वैज्ञानिक तर्कपूर्ण ढंग कबीर ही समझा सकते थे, किसी अन्य के बस की बात नहीं। वर्तमान में नजर डाले तो देखते हैं, बोतल बन्द पानी की बोतलों से सारे रास्ते अंटे पड़े हैं। सभी सार्वजनिक व पर्यटन स्थल प्लास्टिक की बोतलों के वेस्ट से पटे पड़े हैं। उपभोक्ता संस्कृति यानी बाज़ार 200 मि.ली. पानी के गिलास से लेकर पांच और दस लीटर की बोतल लिये घूम रहा है। वे अच्छी तरह जानते हैं कि उपभोक्ता की जेब से पैसा कैसे व कब निकाला जा सकता है। जिसके पास आजीविका के पर्याप्त साधन हैं, उसको वे घर–घर पानी की सप्लाई कर अनुगृहित कर रहे हैं तथा जिसके पास कम पैसे हैं उसे 2 रूपये या पाँच रूपये की छोटी–सी खिलौनानुमा बोतल देकर अपनी जेबे भर रहे हैं। दोघड़ अर्थात् घड़ा कुम्हार की आजीविका का साधन था। जमीन से, प्रकृति से जुड़े होने का अहसास है। मिट्टी से निर्मित शरीर अंततः मिट्टी में ही मिल जाएगा, इस आध्यात्मिक अनुभूति का साक्षात्कार कराता हे, लेकिन उपभोक्ता संस्कृति ने उसके मायने ही बदल दिये हैं। 'जैसा खाये अन्न, वैसा होय मन' वाली उक्ति पर विचार करें, तो स्वतः ही ज्ञान हो जाता है। यदि पानी पीते ही बोतल फेंकनी है, तो उस पानी को हम मात्र शरीर की आवश्यकता तक ही सीमित रखकर देखते हैं। जबकि दोघड़ का पानी अंजुलि में भरकर अर्थात् ओख लगाकर पीया जाता था। वह पानी पीने का यह तरीका तन के साथ–साथ मन को भी तृप्त कर देता था। अतः दोघड़ और पनिहारिन मात्र हमारे संस्कारों व संस्कृति के द्योतक नहीं हैं, वरन् हमें उस दिव्य, अलौकिक, परम तत्त्व से जुड़ने की प्रक्रिया में शामिल करते हैं जबकि बाजार यानी उपभोक्ता संस्कृति Use and through की संस्कृति को बढ़ावा देती है।

हरियाणा में एक कहावत है ''जैसा पीये पानी, वैसी होय बाणी'' जब हम पानी ही प्लास्टिक की बन्द बोतल का पीयेंगे,तो जड़ों से कैसे जुड़े रहेंगे। उस पानी में न मिट्टी के घड़े का संस्पर्श होगा, न पनिहारिन की भावनाएँ उसमें शामिल होंगी। इतना ही नहीं पानी पीते ही हम बोतल को फेंक देते हैं जो एक ओर तो पर्यावरण–प्रदूषण में बढ़ोतरी करेगा तथा दूसरी ओर उस पानी को पीकर किसी तरह का लगाव उत्पन्न नहीं होगा। हरियाणा के लोक गीतों में तो 'पाणी आली पाणी प्यादे, मैं तन्नै देख कै आया'' पानी प्रेम भाव जाग्रत होने का भी माध्यम रहा है। बोतल बन्द पानी पीकर हम कैसे कल्पना कर सकते हैं कि यह आत्मीयता यानी पानी पिलाने वाली से लगाव पैदा करेगा। हरियाणा राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र होने के कारण इससे सबसे ज्यादा प्रभावित है। ज्यों–ज्यों हम राजधानी क्षेत्र से पीछे हटते जाते हैं, हमारे स्वभाव में अन्तर आता जाता है इसका कारण समझ में आता है यहाँ पानी भावशून्य बोतल से पीया गया है, जबकि दूर–दराज के इलाकों में बोतल बन्द पानी का प्रयोग अपेक्षाकृत कम होता है। अतः न्यूनाधिक मात्रा में हम मिट्टी यानी जड़ों से जुड़े रहते हैं। हमारी भावनाएँ दोघड़ व पनिहारिन के प्रति जुड़ी रहती है।

अर्थशास्त्रीय दृष्टि से इस तथ्य पर चिंतन–मनन करें तो देखते हैं कि बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के विस्तारीकरण तथा भूमण्डलीकरण के कारण अन्तर्राष्ट्रीय अर्थतन्त्र का एक उभरता हुआ मालगोदाम व विशाल उपभोक्ता बाजार भारत बन गया है। बड़ी–बड़ी संस्थाओं व उद्योग समूहों ने सब कुछ अधिग्रहित कर लिया हैं बाजार की सच्चाई इतनी बड़ी है कि उसने पूरे लोकतन्त्र पर कब्जा कर रखा है। मुक्त बाजार–व्यवस्था इतनी मजबूत हो चुकी है कि उसमें हम अपना ही खून चूस रहे हैं और हम इन सब बातों से बेखबर रहते हैं। बात मात्र पानी तक सीमित नहीं है वरन् इन कम्पनियों ने बर्गर, पिज्जा, कोल्ड–ड्रिंक के नाम पर पूरे भारतवर्ष की अर्थव्यवस्था पर कब्जा कर रखा है। संक्षेप में कहें तो बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के आकर्षण में हम अपनी जड़ों को भुला चुके हैं, अपने जीवन उद्देश्यों की पहचान खो बैठे हैं। इनका बढ़ता वर्चस्व हम सबको अपनी गिरफ्त में ले रहा है। यहाँ तक कि प्रधानमंत्री, विदेशमंत्री, वित्तमंत्री यानी सत्ता की समस्त कड़ियाँ उदारीकरण की आड़ में विदेशी उत्पादों व विदेशी निवेशकों का आह्वान कर रहे हैं तथा उन्हें आमन्त्रण व निमन्त्रण देकर हमें जाने–अनजाने में उनके जाल में फँसाते जा रहे हैं।

कबीर उपभोक्ता संस्कृति को ये कहकर भी नकारते हैं कि बोतल का पानी या तथाकथित मिनरल

वाटर मनुष्य के स्वास्थ्य के लिए गुणकारी व लाभकारी नहीं हैं। वे कुएँ का पानी जो स्वाभाविक रूप से शीतलता व मधुरता से सम्पन्न होता है, को ग्रहण करने की बात करते हैं वे भली भाँति जानते थे कि यदि मानव अपनी जड़ों से दूर अर्थात् कुएँ के मधुर व शीतल जल से दूर होगा, तो अनेक रोग उसे अपनी गिरफ्त में ले लेंगे। वे इस बात को भी गहराई से जानते थे कि कुएं से घड़े को भरकर लाना मन की एकाग्रता को बढ़ावा देता है तभी तो वे कहते है – ''सुमिरण की सुध यों करो, ज्यों दोघड़ पनिहार''[4] कुएँ से पानी को निकालने के लिए जिस रस्सी का उपयोग होगा, वह प्लास्टिक की नहीं वरन् सूत या पटसन की होगी, जो हाथों को नुकसान नहीं पहुँचायेगी तथा जनसाधारण यानी मनुष्य को प्रकृति के नजदीक ले जाएगी अर्थात् जिनको मिट्टी से प्रेम है। जिनकी प्रकृति के साथ मैत्री और जो कृषि व्यवसाय से भी जुड़ी है। किसान उसे बोएगा काटकर गलाकर रस्सी बनायेगा। गलाने के लिए लगातार एक सप्ताह तक तालाब के पानी में डुबोकर रखेगा, फिर बाँटकर रस्सी का रूप देगा, तदन्तर परिहारिन नेजू–बाल्टी लेकर मटकती हुई पानी भरने जाएँगी। पूरा दृश्य बिम्ब मनुष्य को प्रकृति के सान्निध्य का अनुभव कराता है और कृत्रिम तथा बनावटी दुनिया की चकाचौध से दूर करता है। इस प्रकार सन्त कबीर हमें प्रकृति के दोहन के प्रति सचेत करते हुये तथा प्रकृति के प्रति लगाव उत्पन्न करते हुये एक संतुलित जीवन जीने का संदेश सम्प्रेषित करते हैं। जो स्वयं के लिए भी उपयोगी है व मानवता के कल्याणार्थ भी है। साथ ही आभासी, मायावी दुनिया से दूर रहने की प्रेरणा भी देता है। संसार के बन्धनों से मुक्ति भी दिलाता है। इस प्रकार आत्म–परिष्कार से लोक–परिष्कार की ओर उन्मुख करता है। कुएँ से पानी भर कर सिर पर लाने का एक अन्य लाभ यह भी है कि आज जबकि हर तीसरा व्यक्ति सरवाईकल की भयानक बीमारी से ग्रस्त है, उससे भी मुक्ति दिलाता है। क्योंकि पनिहारिन जब तन के साथ–साथ मन को एकाग्र करती है तो अनेक रोगो जैसे सरवाईकल का निदान स्वतः ही हो जाता है। रोगमुक्त जीवन भी हमें अनेक अवांछित पेनकिलर को लेने से बचाता है। सन्त कबीर पुस्तकीय ज्ञान की अपेक्षा लोक ज्ञान को प्राथमिकता देते हैं पुस्तकों में (जो कि आजकल इन्टरनेट में परिवर्तित हो गया है। हमें नित–नित नये–नये उत्पाद खरीदने के लिए लोक–लुभावने ऑफर दिये जाते है। एक के साथ एक फ्री का लालच दिया जाता है। Buy One get two free जैसे विज्ञापन दिखाकर अपनी ओर आकर्षित करने का प्रयास किया जाता है। लेकिन इन सबसे परे कबीर हमें आत्मज्ञान पर आधारित अनुभवों से परिचित कराते हैं 'तू कहता कागद की लेखी, मैं कहता आँखिन की देखी' कहकर बाजार से दूर रहने का संदेश देते हैं। इनका मानना है कि पुस्तकीय ज्ञान की अपेक्षा आत्मज्ञान ज्यादा श्रेयस्कर है। आत्म ज्ञान हमें अनुभव के आधार पर उतनी ही सामान खरीदने की परमिशन देता है, जितने से हमारा काम चल जाये। कबीर के शब्दो में –

साईं इतना दीजिए, जामे कुटुम्ब समाय।
मैं भी भूख न रहूँ, साधु न भूख जाय।।[4]

ये मात्र स्व की नहीं परहित की भावना में विश्वास रखते हैं। ये जानते थे कि यदि सारे संसाधनों पर हमारा अर्थात कुछ सीमित व्यक्तियों का नियन्त्रण हो गया, तो दूसरों का भला कैसे होगा? इसी से मात्र उतना ही ग्रहण करने की सीख देते हैं, जितने से शरीर की आवश्यकताएँ पूरी हो जायें तथा शेष दूसरों के काम आ सकें। ये इस तथ्य से भी भली भाँति परिचित थे कि अत्यधिक धन व्यक्ति को विरोधी कृत्यों अर्थात् अमानवीकृत कृत्यों की ओर धकेलता हैं अमानवीकृत कार्य समाज में असंतुलन पैदा करते हैं। भेदभाव की भावना को जन्म देते हैं।

यह ठीक है कि फैशन हमारे जीवन का हिस्सा बन चुका है। शहरी तथा कामकाजी महिलाओं के लिए तो यह दौड़ अनिवार्य है क्योंकि उनके पास पैसा भी है और समय तथा प्रदर्शन के लिए स्थान भी है, किन्तु हम बुद्धि का उपयोग न करके लगातार उस फैशन के पीछे दौड़ते रहें, यह प्रवृत्ति भी उचित नहीं है। फैशन हमारे ओढ़ने पहनने के पैमाने तय करता है। इस बात से कुछ प्रतिशत सहमत हुआ जा सकता है, किन्तु अनिवार्य नहीं है, बल्कि यह बाजार की तय रणनीति है, जो व्यापार को दिन दोगुना रात चौगुना बढ़ाती है और हम इस नीति के तहत महज शिकार उपभोक्ता है। पहले निखालिस सूती कपड़े पहनते थे, किन्तु यह सब अब बीते युग की बात हो गयी। सिन्थेटिक धागे से उसमें मजबूती के साथ–साथ चमक भी आ गयी है मजबूती ऐसी कि वर्षो तक बाल भी बाँका न हो, लेकिन आज कपड़ा शरीर ढ़कने का नहीं दिखाने का माध्यम बन गया है। बाजार मनुष्य के साथ खेल खेल रहा है। पुरूषों की अपेक्षा स्त्री इसकी गिरफ्त में जल्दी आती हैं क्योंकि वह बाजार की इजी टारगेट है। कृत्रिम धागे से बने कपड़े फटेंगे नहीं, तो क्या बाजार हाथ पर हाथ रखे बैठा रहेगा, नहीं, यदि ऐसा हुआ तो बाजार–व्यवस्था ठप्प पड़ जायेगी। इसलिये बाजार नित्य नये फैशन की खोज करके ऐसे उत्पाद लायेगा जो उनको अपनी ओर आकृष्ट करेंगे, उनको बढ़ती बनावटी प्रतिस्पर्धा के कारण सर्वत्र वही दिखेंगे। कबीर के मतानुसार – ''लाली मेरे लाल की, जित देखूँ तित लाल''[5] की स्थिति पैदा होगी। कबीर वाणी में 'लाल' शब्द प्रयोग उस आलौकिक, दिव्य सत्ता परमपिता के लिए किया हो, किन्तु पोशाक में बने झरोखों से शरीर का कौनसा अंग दिखेगा, यही आकर्षण उन्हें बाँध लता है। वर्तमान संदर्भों से जोड़कर देखे तो यही बाजार की चकाचौंध उपभोक्ता को अपनी ओर आकृष्ट करती है। कभी 50 प्रतिशत ऑफर के रूप में, कभी एक के साथ दो फ्री तथा इससे एक कदम आगे बढ़कर एक के साथ तीन फ्री का लालच देकर निरन्तर ये उपभोक्ता को अपने चंगुल से निकलने का अवसर ही प्रदान नहीं करने देते। बल्बों की आंखों की चौंधियाती रोशनी में बाजार ग्राहक के कान व आँख दोनों के सूँघने व देखने की शक्ति को अपंग बना देते हैं। हर छोटे–बड़े शहर में बढ़ते माल या टी.वी. में दिखाये जाने वाले विज्ञापन हर किसी को अपनी ओर आकृष्ट करते हैं।

माया दीपक नर पतंग, भ्रमि–भ्रमि इवैं पडंत।
कह कबीर गुरू ज्ञान ते, एकाध उबरंत।।[6]

बाजारवाद के युग में सभी माया के वशीभूत होकर इसकी ओर आकृष्ट होते हैं। यह माया कभी क्रेडिट कार्ड की शक्ल में ग्राहक (जनसामान्य) को अपनी ओर आकृष्ट करती है। कभी उसी कार्ड से बिना पैसों के खरीददारी का लालच देकर। ग्राहक उस समय माया के आँख–फोड़ूं प्रकाश में यह भुला देता है कि यह सब अन्ततः उसी की जेब से निकाला जायेगा। रूप चाहे कोई भी हो, किन्तु माया उपभोक्ता को चूना लगाने की यह साजिश उसको अपनी गिरफ्त में ले लेती है। ग्राहक की आँख जब खुलती है, तब उसके हाथ से तीर छूट चुका होता है। कबीर की भाषा में कहें तो बाजार की इस बनावटी आवश्यकता को पहचानना नितांत अनिवार्य है –

''मन मन्दिर दिल द्वारका, काया कासी जाण
दसवा द्वार देहुरा, तामै जोति पिदाण।''[7]

बाजार की इस सूक्ष्म सेंध मारने वाली रणनीति को आत्म मंथन करके पहचानने की जरूरत है। वास्तव में हमें समझना होगा कि क्या हमें इन सब बाजारू सामान की जरूरत है? क्या इसके बिना हमारा स्टेटस नहीं बना रहेगा? क्या अति आधुनिक दिखने वाले कपड़ों से हमारी समाज में इज्जत होगी? यदि हम इन्हें नहीं पहनेंगे, तो क्या समाज हमारे ऊपर पिछड़ेपन या पुरानी पीढ़ी का लेबल लगाकर हिकारत की नजर से देखेगा? इन सब बातों पर, प्रश्नों पर विचार करके स्वयं हमें ही निर्णय लेना होगा। उस परम विवेक सम्पन्न दृष्टि से आत्म विश्लेषण करना होगा। बाजार के प्रभाव से स्वयं को मुक्त रखना होगा। तभी सन्तों की ये निर्मल वाणियाँ हमें निर्मल बनायेंगी व आत्म–साक्षात्कार के द्वारा स्वतन्त्र रूप से सोचने के लिए प्रेरित करेंगी। तभी कबीर का साहित्य कालजयी बन पायेगा तथा सही अर्थो में हम उनके उत्तराधिकारी सिद्ध होंगे। दसवें द्वार से इनका तात्पर्य उस पैनी, सूक्ष्म, विवेक सम्पन्न दृष्टि का उपयोग करके बाजार के हमाम में सब नंगों को जवाब देना होगा। तभी विक्रम बेताल की तरह अपने स्वयं के कन्धों पर लदे बाजार को उतार फकेंगे और बढ़ते बाजार के कारण उत्पन्न समस्याओं से रूबरू होते हुये उनका समाधान खोजने में अपना योगदान दे सकेंगे।

'मोको कहाँ ढूंढे बन्दे मैं तो तेरे पास में' के इस महान् चिन्तन को अपना गुरू बनालें। आत्म साक्षात्कार करके स्वयं तथा चित्त में धारण करके उस परम सत्ता से तादात्मय स्थापित करने में ही मानवता की भलाई है। वह परमात्मा बाजार की वस्तु नहीं है। ईश्वरीय आनंद खरीदने–बेचने की वस्तु नहीं है। उसे पाने के लिए स्वयं का तथा अहम् का त्याग करना पड़ता है।[8]

धीरे–धीरे रे मना, धीरे–धीरे सब कुछ आवै।

मूल्यों को बदलने की यह ऋतु हमसे ही आयेगी और हमें ही लानी होगी, किन्तु ये सब धीरे–धीरे होगा। बाजारवाद की इस चौंधियाती रोशनी को पहचान कर अपने चिन्तन में बदलाव लाना होगा। इस घट में ही उस परम तत्त्व स्वरूप परमात्मा को पहचान कर स्वयं को पहचानना होगा।

इस सब चिन्तन–मनन का सार यह है कि बाजार केन्द्रित नया अर्थ तन्त्र विकास और आधुनिकीकरण के तमाम शब्द जाल के बावजूद हमें एक सुखी व संतुष्ट जीवन देने में अक्षम हैं क्योंकि यह भूख एवं लालच की ऐसी लड़ाई को जन्म दे रहा है, जिसके समक्ष कुछ नहीं बचेगा। न प्रेम, न मूल्य न सद्भाव। समाज के नाम पर एक भीड़ बचेगी। अलग–अलग परिवेश से जूझते आँकड़ों का सच चाहे कुछ भी हो, किन्तु साहित्य का सच एवं रचनाकार की दृष्टि मानवीय मूल्यों कब्र पर पनपते विकास की प्रशंसक कभी नहीं हो सकती।

कबीर सामाजिक मुद्दों पर मनुष्य को फटकार लगाते हैं। मूर्तिपूजा अर्थात् जड़ता का समर्थन नहीं करते। वे जानते थे कि ये बाह्य कर्मकाण्ड समाज को बांट कर दुख का कारण बनते हैं। कबीर इन दुखों का शमन करना चाहते थे। वे जानते थे शमन के लिए शरीर को, मन को साधना पड़ता हैं यह अष्टांग योग द्वारा संभव है। शरीर शुद्धि हेतु वे कायिक स्नान की अपेक्षा मानसिक शुचिता पर बल देते हैं। आत्मिक परिष्कार के लिए स्वयं से आँख मिलाने की बात करते हैं। यह तभी संभव है जब हम संतुलित जीवन शैली अपनाएँ। वे मनुष्य के अन्तकरण को जगाना चाहते हैं। कबीर मनुष्य को उसकी नैसर्गिक स्थिति में स्वीकार करने के पक्षधर रहे हैं। सच्चाई सादगी इनकी कविता में मूल्य हैं। इन्हीं मूल्यों के साथ जीवन जीने की प्रेरणा देना कबीर का साध्य रहा हैं। कबीर की कविता बौद्धिकता से नहीं आचरण से निःस्सृत कविता हैं अर्थात् आचरण की कविता है। वे Use and through के बाजारवाद के Culture में विश्वास नहीं रखते, इसलिए वे आज के मनुष्य को विक्रम के कन्धे पर बैठे बाजार रूपी बेताल से मुक्ति दिलाना चाहते हैं, कबीर बाजार की शक्तियों से परिचित थे, वे बाजार की नब्ज को पहचानते थे, वे इस तथ्य से अवगत थे बाजार रूपी डाकू मनुष्य की सद्वृत्तियों को समाप्त करके उसे बाज़ार की चौंधियती दुनिया में जबरदस्ती छीनकर, झपटा मारकर खींच लेना चाहते हैं –

चौहरै, चिंतामणि चढ़ी, हाडी भारत हाथ
भीरां मुझसूं मिहर करि, इब मिलै न काहू साथ[8]

अध्ययन का उद्देश्य

कबीर साहित्य को पढ़ने का एक नया दृष्टिकोण है।

आज तक हम कबीर को भक्ति से जोड़ कर देखते रहे हैं। जबकि गहराई से अध्ययन करने पर उनका पर्यावरण को लेकर सजग रूप सामने आता है। जितना वे शारीरिक और मानसिक रूप से जन सामान्य स्वस्थ देखना चाहते हैं उतना ही प्रकृति से भी जोड़ना चाहते हैं। वे जानते थे कि जड़ों से कटकर मनुष्य कभी भी सुरक्षित नहीं रह सकता है।

निष्कर्ष

सन्त कबीर परमात्मा से प्रार्थना करते हैं मेरे ऊपर दया करो, जिससे अब इन सबके चक्कर मे न पड़ूं। वे न केवल स्वयं उपभोक्ता संस्कृति से दूर रहना चाहते हैं, वरन् जन सामान्य को भी यही सीख देते हैं यह बाजार रूपी डाकू ने मनुष्य की विवेक शक्ति को कुण्ठित करके उसे गलत दिशा में धकेल दिया है। अतः आत्म–संयम व आत्म–परिष्कार ही विकृत मानसिकता से मुक्ति दिला सकता है। कबीर उपभोक्ता संस्कृति की अँधाधुँध दौड़ में शामिल होने की अपेक्षा वैकल्पिक

कुटीर–उद्योगो की सभ्यता का निर्माण करना चाहते है। वे मनुष्य की आत्मा को गिरवी रखने की बजाय स्वतन्त्रता में विश्वास रखते हैं 'झीनी–झीनी रे चदरिया' कहकर रोजगार पैदा करने के समर्थक रहे हैं। वे श्रम को मानवीय मूल्य स्वीकार करते हैं। भारत के कुटीर उद्योग के सपने को साकार होते देखना चाहते हैं। वे सच्चाई व सादगी के साथ मनुष्य के अन्तःकरण को जगाना चाहते है। वे बाजारवाद के प्रतिपक्ष में खड़े होकर अपनी अर्थव्यवस्था को सुधारने की बात करते हैं वे व्यक्ति को बनावटी जरूरतों से दूर रहने के लिए प्रेरित करते हैं सारांश यह है कि कबीर एक ऐसे मानव–समाज का निर्माण करना चाहते हैं जो पूरी तरह से भारतीय संस्कारों और संस्कृति से अनुस्यूत हो।

पाद टिप्पणी

1. *काव्य–शिखर, सम्पादक डॉ. मिश्र, म.द.वि., मुद्रण एवं प्रकाशन विभाग, पृ. 1।*
2. *संगोष्ठी में भाषण/वक्तव्य के दौरान कही गयी।*
3. *काव्य शिखर, सम्पा. डॉ. मिश्र, म.द.वि. मुद्रण एवं प्रकाशन विभाग, पृ. 6।*
4. *पद्य गंगा, सम्पा. डॉ. मंगल गुप्त, कु.वि. कुरूक्षेत्र पृ. 1।*
5. *पद्य गंगा, सम्पा. डॉ. मंगल गुप्त, कु.वि. कुरूक्षेत्र पृ. 4।*
6. *पद्य गंगा, सम्पा. डॉ. मंगल गुप्त, कु.वि. कुरूक्षेत्र पृ. 8।*
7. *काव्य शिखर, सम्पा. डॉ. मिश्र, म.द.वि. मुद्रण एवं प्रकाशन विभाग, पृ. 7।*
8. *कबीर वाणी पीयूष, सम्पा. डॉ. जयदेव, डॉ. वासुदेव सिंह, वि. प्रकाशन वाराणसी, पृ. 50।*